International Journal of Research
*Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers*
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

# वैदिक मनोविज्ञान

**डॉ राम भगत**
**संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विभाग**
**महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक।**

## 1द्ध मन और उसके भेद

आत्मा अर्थात् चेतनशक्ति शरीर में एक है, जो कि सभी सामान्य और विशेष कर्मों का अधिष्ठाता है, परन्तु आत्मा की अधिष्ठातृता शरीर में वर्तमान बहिष्कार और अन्तःकरण के द्वारा ही अभिव्यक्त होती है। हाथ–पाट्टव आदि अवयवरूप कर्मेन्द्रियाट्ट और नेत्रा आदि ज्ञानेन्द्रियाट्ट बहिष्करण हैं तथा इच्छा, विवेचना, स्मृति और अहंकृति[1] का साधनयन्त्रा मन अन्तःकरण है। इसलिये समस्त कर्मकलाप का द्वार मन अन्तःकरण है।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्ष्मन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसध्ल्पमस्तु।।[2]

अर्थ – ;यत्द्ध जो ;प्रजानाम्द्ध प्रजाओं का प्राणियों का ;अन्तःद्ध अन्तःकरणरूप ;मनःद्ध मन ;अपूर्वम्द्ध अपूर्व, अ0ुत ;यज्ञम्द्ध पूज्य, ग्राह्य वस्तु है और ;येनद्ध जिस अन्तःकरण रूप मन से ;मनीषिणःद्ध विचारपरायण ;यज्ञेद्ध देवपूजा, सद्गतिकरण, दानरूप अवसर में ;कर्माणिद्ध कर्मों को विशेष कर्मों को तथा ;धीराःद्ध दृढ़ जन–कर्त्तव्यपरायण ;विदथेषुद्ध योगक्षेम की प्राप्तिवाले अवसरों में ;अपसःद्ध कर्मों को साधारण कर्मों को ;कृण्वन्तिद्ध करते हैं ;तत्द्ध वह ;मेद्ध मेरा अन्तःकरण रूप मन ;शिवसध्ल्पम्द्ध शिवसंकल्प वाला कल्याण के संस्कारों वाला ;अस्तुद्ध हो।

योगी–अयोगी, वैज्ञानिक–लौकिक और शिक्षित–अशिक्षित जन जो भी विशेष या सामान्य कर्म करता है वह कर्म प्रथम मन के अन्दर संकल्प रूप में अंकुरित होता है, पुनः शरीर के उस–उस अंग में अभिव्यक्त या प्रत्यक्ष प्रवृत्त हो जाता है। जैसे किसी यन्त्रा ;मशीनद्ध के विविध कलाचक्रों की गति का कारण विद्युत्शक्ति है एवं शरीर यन्त्रा के अंग–अंग में होनेवाले क्रियाकलाप का कारण मन अन्तःकरण है।[3] शास्त्राकारों ने कहा है कि मनुष्य जिसका मन से ध्यान करता है उसको वाणी से कहता है, जिसे वाणी से कहता है उसे कर्म से करता है।[4] वेद में वाणी को मध्य में नहीं डाला, क्योंकि वाणी से बोलना भी तो कर्म है, मन से प्रथम संकल्प होता है, पुनः कर्म की प्रवृत्ति। विद्वानों का कथन है कि बाह्यजीवन का आधार आन्तरिक जीवन है। अतएव मन को शिवसंकल्प वाला बनाने का यह वैदिक आदेश है।

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

संसार में बड़े–बड़े ऋषि–मुनि, सन्त–महात्मा, दार्शनिक–वैज्ञानिक और सुखी–सम्पन्न जन मन के सदुपयोग से ही हुए हैं वरन् अधम–पामर, क्षुद्र–नीच, उन्मत्त–प्रमत्त और दुःखी–दरिद्र होना आदि ही मन के दुरुपयोग के पफलस्वरूप है। इसलिये मन में सद्भाव को स्थान देकर उसको शिवसद्दल्प वाला बनाना चाहिये।

अन्तःकरण में जब किसी संस्कार का उद्रेक पुनः पुनः उठा करता है तो वह सम्पुष्ट हो अन्तःकरण को बलात् आन्दोलित कर बाह्य इन्द्रियों में अभिव्यक्त हो जाता है। एक दो बार का संस्कार तो पैन्सिल के कच्चे चित्रा के समान होता है, उसको मिटाया जा सकता है अथवा उसकी जगह अन्य संस्कार को उपजाया भी जा सकता है। परन्तु जब वह पक्के रद्द वाले चित्रा के सदृश पक्का या अभ्यस्त हो जाता है तो उससे अन्तःकरण पूर्णरू×जत होकर बाहर कार्यरूप में परिणत हो जाता है।[5]

समस्त बाह्य इन्द्रियों के विषयों का एकीकरण जिसमें होता है वह एक ही आन्तरिक साधन अन्तःकरण है। इसको कोई आचार्य मन कहता है, कोई बुि(, कोई चित्त और कोई अंहकार कहकर व्यवहार करते हैं। परन्तु भीतरी सूक्ष्म वृत्तिभेद को लेकर उक्त चारों के अलग–अलग स्वरूप ही आचार्यों न माने हैं। अन्तःकरण के मन, बुि(, चित्त और अहंकार ये चारों नाम उपनिषदों में भी अलग–अलग कहे गये हैं।[6] वेद में इन चारों को मन कहकर तथा अलग–अलग नामों से भी वर्णित किया है।

त्रिाषु जातस्य मनांसि।[7]

यहाद्द सब को मन नाम से कहा है। तथा –

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये मत्यै श्रुताय चक्षये।
विधेम हविषा वयम्।[8]

अर्थ – ;मनसेद्ध मनके लिये ;धियेद्ध बुि( के लिये ;चेतसेद्ध चित्त के लिये ;आकूतयेद्ध अहघ्कृति के लिये – अहंकार के लिये ;उतद्ध तथा ;श्रुतायद्ध श्रवण के लिये ;मत्यैद्ध मनन के लिये ;चित्तयेद्ध चित्त अर्थात् निदिध्यासन के लिये ;चक्षसेद्ध साक्षात्कार के लिये ;हविषाद्ध आत्मभाव से ;विधेमद्ध आचरण करते हैं।

स्वामी ब्रह्ममुनि के अनुसार चारों मन आदि में प्रत्येक के दो–दो धर्म हैं। मन के संकल्प तथा विकल्प, बुि( में सन्देह तथा निर्णय, चित्त में भूतस्मरण तथा भावीस्मरण और अहंकार में अहंभाव तथा ममभाव की प्रवृत्ति होती है। वेद में इनके विशेष विज्ञान सबको मन नाम देकर

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

वर्णित किये हैं।

उपर्युक्त विवरण में यह सि( हुआ कि मन वस्तुरूप से एक ही हैं किन्तु उसके मन, बु(ि, चित्त और अहंकार नामों से कहना होगा, परन्तु जब एक ही सामान्य कार्य लक्ष्य में रखना हो तब एक ही सामान्य मन नाम से कहा जावेगा।

**2द्ध मन का स्थान**

शरीर में जितने करण हैं उन सबका अपना–अपना स्थान नियत है। हाथ, पाट्टव और नेत्रा आदि बहिष्करणों के स्थान तो शरीर के बाहर भाग में नियत हैं एवं मन अन्तःकरण का भी शरीर के अन्दर कोई स्थान नियत होना चाहिये और वह स्थान शक्तिगृह ;च्वूमत भ्वनेमद्ध होना चाहिये, जहां से मनोधारा विद्यु(ारा के सदृश आवश्यकता के समय यथास्थान पर पहुट्टच कर उस–उस अंग को यथोचित चेष्टायुक्त बना दे। शरीर के अन्दर ऐसा शक्तिसम्पन्न स्थान हृदय है, जहाट्ट से सारे अंगों को जीवन–शक्ति प्राप्त होती है। वेद में इसीलिये मन का स्थान हृदय बताया गया है–

सुषारथिरश्वाानिव यन्मनुष्याप्रनीयते{भीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[9]

अर्थ – ;यत् मनःद्ध जो मन ;हृत्प्रतिष्ठम्द्ध हृदय में प्रतिष्ठत ;अजिरम्द्ध सदा पूर्ण बलवान् ;जविष्ठम्द्ध अत्यन्त वेगवान् हुआ ;सुषारथिरिवद्ध उत्तम सारथि सा बन ;अभीशुभिःद्ध लगामों से ;वाजिनोश्वाानिवद्ध बलवान् घोड़ों की तरह ;मनुष्यान्द्ध मनुष्यों को ;यत्द्ध यतः ;नेनीयतेद्ध जहाट्ट तहाट्ट ले जाता है ;तत्द्ध वह ;मेद्ध मेरा मन ;शिवसंकल्पमद्ध शिव संकल्पवाला ;अस्तुद्ध हो। तथा –

मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचत्।[10]

यह ठीक है, जब मन इन्द्रियों के सम्पर्क से रहित हो तो वह स्वस्थान में स्थित होगा। योग के अभ्यासों से मन हृदय में प्रतिष्ठित हुआ प्रतीत होता है। यदि देखा जाये तो शान्त बैठने पर भी मन की आन्तरिक स्थिति में उसके संकल्प ;प्राप्ति की इच्छाद्ध, विकल्प ;परिहार की इच्छाद्ध आदि धारायें हृदय से ही उठती हुई अनुभव होंगी।

हृदय से सम्पूर्ण शरीर में प्राण–संचार एवं रक्त–संचार होता है और उस हृदय में मन का निवास हो इसके अर्थ यह हैं कि प्रत्येक, प्राणतन्तु और प्रत्येक रक्तकण पर मन का अधिकार है, वह किसी भी अंग को बलिष्ठ, पुष्ट और स्वस्थ बना सकता है अर्थात् मनोबल के अधीन शरीरी–कला है। इसीलिये इस हृदयसम्राट् मन को शिवसंकल्प वाला बनाना मनुष्य

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

जीवन की सपफलता का हेतु है। शारीरिक सुख, दुःख और इन्द्रियों के सद्–असद् व्यवहार का कारण हृदयस्थ मन ही है। अतएव पुण्यात्मा बनने के लिये हृदयस्थ मन को पवित्रा बनाना परम कर्त्तव्य है।[11]

### 3द्ध हृदय और आत्मा से मन पृथक् वस्तु है

शरीर एक कलायन्त्रा है। जैसे किसी कलायन्त्रा ;डंबीपदमद्ध के संचालक ;क्तपअमतद्ध कलायन्त्रा का मूलस्थान ;डवजवतद्ध में यन्त्रा–शक्ति विद्युत् होते हैं, एवं इस शरीररूप कलायन्त्रा के संचालन में संचालक ;क्तपअमतद्ध चेतन आत्मा मूलस्थान ;डवजवतद्ध हृदय और मूलस्थान रूप हृदय में विद्युत् मन है। हृदय जड़ है, मन भी जड़ है, परन्तु मन हृदय से सूक्ष्म और अधिक शक्तिमय होने से हृदय पर शीघ्र प्रभावकारी हो जाता है। हृदय के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्राणतन्तु और नाड़ी–जाल हैं, परन्तु मन की सूक्ष्म धारायें ऐसी हैं जिसे विद्युत की धारायें ;ब्नततमदजेद्ध होती है। आत्मा चेतन और अतिसूक्ष्म है तथा अवयवरहित केवल तत्त्व है इसीलिये मन उसके अधीन है। मन इसका उदाहरण है। आत्मा यद्यपि सभी इन्द्रियों से सदा युक्त है, परन्तु मन उपकरण द्वारा जिधर वह प्रवृत्त होता है उसी इन्द्रिय के विषय का साक्षात्कार करता है। हृदय दोनों का अर्थात् आत्मा और मन का[12] समान स्थान है, आत्मा हृदय का अधिकर्त्ता स्वामी है, मन उसका उपयोज्य उपकरण है। जैसे तीर के चलाने वाले का और उसके अधीन तीर का स्थान एक होता है, वैसे ही आत्मा और उसके अधीन मन का स्थान एक हृदय है। भेद इतना ही है कि तीर एक बार छूट कर पुनः लौट कर नहीं आता, चाहे लक्ष्य तक पहुट्टचे या न पहुट्टचे, पर मन रूपी तीर लक्ष्य पर पहुट्टच कर पुनः लौट भी आता है क्योंकि मन वास्तव में समस्त रूप से स्थानच्युत नहीं होता किन्तु उसकी धारायें ही चलती हैं मन जाता कहीं नहीं है, जाता हुआ–सा मालूम पड़ता है। कहा भी है –

''गच्छतवि च मनः''[13]

हृदय और आत्मा से मन भिन्न वस्तु है, वेद में यह सि(ान्त स्पष्ट वर्णित है–

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।[14]

इस मन्त्रा में मन और हृदय को भिन्न–भिन्न बताया है। तथा

मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पताम्।[15]

आत्मानं ते मनसारादतजानाम्।[16]

इन मन्त्राों में मन और आत्मा भिप्र–भिप्र वस्तु हैं यह प्रदर्शित किया है। तथा –

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

न विजानामि यदि वेदमस्मि निण्यः सन(ो मनसा चरामि।[17]

उक्त मन्त्रा का देवता आत्मा है, उसका अनुभव है कि मैं आत्मा शरीर में निहित हुआ अपने स्वरूप को नहीं जानता मन रूप उपकरण से अपना व्यवहार करता हूट्ट। वास्तव में आत्मा मन के द्वारा ही अपने सब कार्यों को करता है ''मनसि वै सर्वे कामाः श्रिता मनसा हि सर्वान् कामान् ध्यायति''[18] मन में सारी कामनाऐं, सारी इच्छाएट्ट, सारे सुख हैं क्योंकि मन से ही सारी कामनाओं को, सारे सुखों को आत्मा अनुभव करता है। इसलिये मन आत्मा से भिप्र वस्तु है।

कलायन्त्रा ;डंबीपदमद्ध के संचालक ;क्तपअमतद्ध का ध्यान यद्यपि सारे कलायन्त्रा की ओर होता है, परन्तु उसके मूलस्थान ;डवजवतद्ध में चूंकि यन्त्राप्रेरक विद्युत् है अतः संचालक ;क्तपअमतद्ध की विशेष उपस्थिति मूलस्थान ;डवजवतद्ध पर ही रहती है एव शरीरयन्त्रा का संचालक आत्मा यद्यपि सम्पूर्ण शरीर से सम्बन्ध रखता है, परन्तु उसके मूलस्थान रूप हृदय में प्रेरकशक्ति मन है अतः मन के साथ आत्मा का भी स्थान हृदय है।[19]

### 4द्ध मन के विशेष धर्म

जैसे प्रत्येक बहिष्करण के अपने–अपने धर्म हैं, नासिका से सूंघना, जिह्वा से स्वाद लेना, नेत्रा से देखना, आदि एवं मन अन्तःकरण के भी अपने धर्म हैं। यों तो कोई भी इन्द्रिय मन से संयुक्त हुए बिना अपना काम नहीं कर सकती तो भी मन अन्तःकरण के निजी धर्म भी हैं। जबकि वह एक अन्तःकरण के नाम से समझा जावे तब इसके धर्म पिछले प्रकरण में बताये जा चुके हैं, परन्तु इस प्रकरण में इन धर्मों का वर्णन किया जावेगा जो कि विशेष रूप में मन, बुि(, चित्त और अहंकार नाम से समझे जाने वाले मन के धर्म हैं, परन्तु उन चारों के धर्मों का वर्णन एक सामान्य मन नाम से होगा।

**प. मन के सम्बन्ध में –**

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरद्वमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[20]

अर्थ – जागते हुए मनुष्य का जो मन देवों–इन्द्रियों के विषय को दूर तक भी उत्क्रान्त हो जाता है – पहुट्टच जाता है उसी इन्द्रिय संस्कार को सोते हुए का वैसे ही गति करता है – प्राप्त हो जाता है और दूर तक जाने वाला ज्योतियों का एक ज्योति है वह मेरा मन शिव सध्ल्प वाला हो।

यह बताया जा चुका है कि मन विद्युत् के सदृश है, जैसे विद्युत् का सहसा पतन होता है वैसे ही मन भी अपने विषय या संस्कार पर सहसा पतन करता हैं।[21] जैसे कि विद्युत् क्षण भर में पूर्व तो क्षण भर में पश्चिम, क्षण भर में उत्तर तो क्षण भर में दंक्षिण में चमक जाती है एवं मन भी सद्यः ;पफौरनद्ध कहीं से कहीं पहुट्टच जाता है।[22] अतएव विद्युत् दूर से दूर स्थान तक जा सकती है तो मन भी दूर से दूर तक जा सकता है, यह बात प्रस्तुत मन्त्रा में बताई गई है।

इस ऐसे मन को शिवसंकल्प वाला अर्थात् पुण्येच्छावाला बनाने का विधान उक्त मन्त्रा में है। मन में सदा संकल्प ;अभीष्ट प्राप्ति की इव्छाद्ध और विकल्प ;अनिष्ट–परिहार की इच्छाद्ध उठा करते हैं, उन संकल्प–विकल्पों से मन को रिक्त करके किसी कल्याणकारी संकल्प को मन में स्थान देना, पुनः–पुनः उसमें लगाना ही मन को शिवसंकल्प वाला बनाना है। जिसमें अपना और दूसरों का कल्याण सि( हो वही शिव संकल्प है। शिव संकल्प के अभ्यास से मन को कभी शिथिल न करना चाहिये, ऐसा करने से आगे चलकर बड़े–से–बड़े कल्याणकारी संकल्प को मन में ला सकते हैं। चूंकि मन ही सारे शरीरयन्त्रा का मुख्य उपकरण है अतः उसके समुचित होने से सारा शरीरयन्त्रा भी समुचित कार्य करेगा।

**पप. बु( के सम्बन्ध में**

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिभा यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्माप्र ऋते किभान कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।[23]

अर्थ – जो बु( तथा चेतस् – चेतावनी का साधन और धृति–धारण का उपकरण है जो प्रजाओं में – मनुष्यों में भीतरी ज्योति न नष्ट होने वाली न बुझने वाली है जिसके बिना कोई काम नहीं किया जा सकता है वह मेरा बु(रूप मन सत्य का निश्चय करने वाला हो।

बाह्य प्रकाश से जैसे वस्तु–अवस्तु का पता हो जाता है एवं बु(रूप भीतरी प्रकाश से मनुष्य सत्य–असत्य का निर्णय कर लेता है। बु( के बिना कोई काम यथावत् नहीं किया जा सकता है। इसलिये बु( को उच्चकोटि के सत्यान्वेषण में लगाना चाहिये।

बु( का काम सन्देह निर्णय करने का है। इसको अनुचित सन्देह और निर्णय से हटाकर उच्च वस्तु में हुए सन्देह को दूर करने और उच्च निर्णय करने की ओर लगाना चाहिये।

**पपप. चित्त के सम्बन्ध में**

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसध्ल्पमस्तु।।[24]

अर्थ – जिस स्थिर धर्मवाले चित्त से यह सब पिछला, वर्त्तमान का, आगे आने वाला ज्ञान सम्यक् प्राप्त–सर्वतः स्ववश किया हुआ है। जिससे पाट्टच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुि( का स्मृति सद्दतिकरण व्यवहार विस्तृत किया जाता है वह मेरा चित्तरूपमन पुण्य स्मृतिवाला पुण्य स्मृतिवाला हो।

तीनों कालों में प्रत्यक्ष किये हुये का स्मृति साधन चित है और चित ही नेत्रा आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों के गन्ध, रस, रूप स्पर्श, शब्द तथा मन के संकल्प–विकल्प किये और बुि( के सन्दिग्ध निर्णीत विषयों की स्मृति का अधिकरण है। चित्त ही उसकी स्मृति कराकर पुनः मनुष्य को उधर प्रवृत्त कराता है। अतः चित्त को पुण्यस्मृति वाला बनाना चाहिए।

चित्त के अन्दर उठी हुई अनुचित स्मृतियों को बन्द करके पुण्य विषयों को स्मृति पथ पर लाना और भावी जीवन–सुधार के लिए उच्च उर्ेश्यों को सोचना परम कल्याणकारक है।

जो मनुष्य अपने पिछले अयुक्त कर्मों के परिणामों को भूल जाता है, श्रेष्ठ कर्मों के पुण्यपफलों को याद नहीं करता है तथा अपने भविष्य को उच्च बनाने का जिसको ध्यान नहीं आताँ वह मनुष्य संसार में सदा गिरा रहता है। हाट्ट, जो मनुष्य अपने पिछले निकृष्ट कर्मों के परिणाम को ध्यान में रख सदा उन कर्मों को त्याज्य समझता है और उत्तम कर्मों के पुण्यपफलों को याद रख उनका पुनः–पुनः आचरण करता है। वह पुण्यवान्, सदाचारी, धर्मात्मा और योग्य विद्वान् बनता है।[25]

**पअ. अहंकार के सम्बन्ध में**

यस्मिनृचः सामयजू्भिात्ृषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मि्ृचित्त्ृसर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसध्ल्पमस्तु।। [26]

अर्थ – जिसमें ऋचाएं, ऋग्वेद के मन्त्राों का ज्ञान या स्तुति जिसमें यजुर्वेद के मन्त्रा, उनका आचरण या प्रार्थना सामवेद के मन्त्रा, उनका सेवन या उपासना जैसे रथ की नाभि में अरे डाŠकाएट्ट जुड़ी होती हैं। ऐसे प्रतिष्ठित हैं जिसमें प्रजाओं का – सम्बन्धियों का–प्राणियों का सकल चित्त जुड़ा हुआ या निहित है, वह मेरा अहंकाररूप मन सात्विक भावनावाला हो।

वेदत्रायी के विकास का तथा स्तुति, प्रार्थना और उपासना के अनुष्ठान का आधार अहधर है। अहधर में ही समस्त सम्बन्धियों और प्राणियों का चित्त ममत्व–ध्यान या परिचित–पहचान का साधन रहता है। ऐसे अहधर को सत्य गौरव से युक्त करना उन्नति का

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

हेतु है।

जो मनुष्य अपने आत्मभाव को पुण्य और पवित्रा बनाने में तत्पर रहता है वही वेदों के मर्म को जान सकता है और प्रभु की शरण का आनन्द लाभ कर सकता है। वही मनुष्य बन्धु–बान्धव आदि के ममत्व में अधिक न पफट्टस मोहमाया के दुःख से बच सकता है तथा दूसरों में सत्यप्रेम को उत्पन्न कर सकता है। इसलिये अहंकार में अनिष्ट अहम्भाव और ममभाव को न रखकर वास्तविक एवं सात्विक अहंभाव और ममभाव को ही स्थान देना चाहिये।

जो व्यक्ति अपने अहधर रूपी मन को वास्तविक एवं सात्विक भावना से युक्त नहीं बनाता है वही 'स्त्राी मेरी हे, पुत्रा मेरा है, अमुक व्यक्ति मेरा है, घर मेरा है, धन मेरा है' इत्यादि ममता में इतना गहरा पफट्टस जाता है कि अन्त समय में भी उसको अपने सच्चे हित का ध्यान नहीं आता तथा 'मैं दरिद्र हूट्ट, मैं निर्बल हूट्ट, मैं रोगी हूट्ट, मैं अभागा हूट्ट' आदि निकृष्ट अहम्भावनाओं में पड़कर महादुःखी रहता है। किन्तु जो अपने बन्धुबान्धवों के मोह में अधिक न पफंस उचित कर्त्तव्य पालन करता है और अपने शरीर पर योगक्षेम के अनुसार ही दृष्टि रखता है वह सदा सन्तुष्ट और सुखी रहता है।[27]

### 5द्ध मन का सध्ल्पात्मक उपयोग

प्रबल इच्छा या प्रबल धारण का नाम संकल्प है और सध्ल्प मन का धर्म है। मानवीय जीवन सध्ल्पमय बनकर ही उत्तमतया निर्वाहित होता है। चाहे पारिवारिक जीवन हो या सामाजिक, किंवा वैयक्तिक जीवन हो। परिवार के अन्दर एक स्त्राी में बहन का सध्ल्प है, दूसरी स्त्राी में पत्नी का। प्रेम दोनों से अधिक है – पर उसमें अत्यन्त भेद है। एक पुरुष के प्रति भ्राता का सध्ल्प है, दूसरे में पति का। प्रीति दोनों में है, परन्तु उसमें विशेष अन्तर है। जीवन का जब अन्त होता है तब भी सध्ल्प ही प्रधान होकर पुनर्जन्म में पफलदायक बनता है।[28] वेद तो यहाट्ट तक कहता है कि परिवार में पिता–पुत्रा आदि का सम्बन्ध भी अपनी मनोभावना का पफलस्वरूप है –

उतैषां पितोत वा पुत्रा एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः।।[29]

अर्थ – प्रथम से ही प्रसि( अर्थात् नित्य देव–आत्मा मन में – मनोभावना में प्रविष्ट हुआ – बंधा हुआ यद्यपि एकमात्रा है तो भी इनका पिता है अपि च इनका पुत्रा है और इनका ज्येष्ठ भ्राता है अथवा कनिष्ठ भ्राता हैं ऐसा व्यवहृत होता है तथा वही आत्मा गर्भ के भीतर भी

रहता है।

जबकि पारिवारिक जीवन सध्ल्प पर निर्भर है, अन्त समय में सध्ल्प ही साथ देता है और पुनर्जन्म में भी सध्ल्प पफलदायक है तब सारी ही जीवनयात्राा का आधार सध्ल्प हो सकता है। मनुष्य मन में उत्तम सध्ल्प करके अपने जीवन को सपफल और उन्नत बना सकता है। वेद में इस प्रकार सध्ल्पात्मक उपयोगों का वर्णन–स्थान–स्थान पर मिलता है, यहाट्ट चार उदाहरणार्थ प्रदर्शित किये जाते हैं –

**प. सपफलता प्राप्त करने का सध्ल्प**

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यजित्।।[30]

अर्थ – कर्म मेरे दक्षिण हाथ में विजय या सपफलता मेरे वाम हाथ में प्राप्त है। मैं गौओं का तथा भूमि का विजेता घोड़ों का तथा राष्ट्र का विजेता धन सम्पत्ति का विजेता ऐश्वर्य का विजेता बनूं।

मनुष्य को सदा कर्मशील रहना चाहिये। आलस्य, प्रमाद को पास न आने देना चाहिये। संसार में उन्नत होकर जीवित रहने वाले के लिये आलस्य मृत्यु के सदृश है।[31] स्वाधीनता के इच्छुक तथा स्वाश्रयी जन कभी निराश या हताश नहीं होते, किन्तु धैर्य के साथ काम करते जाते हैं और अन्त में सपफलता प्राप्त करते हैं। ऐसे मनुष्यों के लिये किसी भी सम्पत्ति या भूभाग का प्राप्त करना कुछ कठिन नहीं होता।

आगे बढ़ने वाले के लिये कर्त्तव्य और सपफलता उसके दोनों हाथों के खेल हैं। वहाट्ट न कर्त्तव्य में कभी बहाना न सपफलता से कभी च्युति। एक दो बार यत्न करने पर भी सपफलता न हो तो वह भाग्य के भरोसे बैठकर नहीं रोता, किन्तु जाट्टच करता है कि यत्न में या कर्त्तव्य में कोई दोष अवश्य है ;यत्ने कृते न सि(यति कोऽत्रा दोषःद्ध। पुनः उस दोष को दूर कर सपफलता प्राप्त करता ही है। अस्तु। इस प्रकार धैर्य, उत्साह और भावना आदि मनोबल से काम लेना ही जीवन है, यह वैदिक आदर्श है।[32]

**पप. यशस्वी बनने का संध्ल्प**

''यशो माद्यावापृथिवी यशो म इन्द्राबृहस्पती यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम्। यशस्व्यस्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम्।।''[33]

अर्थ – आकाश–भूमि या माता–पिता मेरे प्रति यशरूप हों – यश का कारण बनें,

विद्युत सूर्य या शिष्य–गुरु मेरे यश रूप भाग या पफल प्राप्त हों, यश मुझे छोड़े–देहान्त के पभाात् यश मेरा नाम छोड़े, मैं इस सभा का यशस्वी प्रवक्ता–प्रवचनकर्त्ता–उत्तम वक्ता होउफं।

स्वामी ब्रह्ममुनि के अनुसार भूगोल–खगोल और विद्युत्–सूर्य की विद्याओं का विद्वान् बनना, माता–पिता की सेवा करना, उत्तम आचार्यों और शिष्यों का संबंध, धन–सम्पत्ति का परोपकार में लगाना, सभा समाज का प्रवक्ता पथ–प्रदर्शक बनना, ये सब मनुष्य के यश के कारण हैं। यशोलाभ मनुष्यजीवन का परमपफल है। विद्याओं के उपयोग में, सम्बन्धियों के सम्बन्ध में, गुरु–शिष्यों के सम्पर्क में, धन–सम्पत्ति की प्राप्ति में, सभा–समाज के संसर्ग में सदा ऐसा व्यवहार ऐसा आचरण करने की भावना रखनी चाहिये कि जिससे यशस्वी बन सके। यशस्वी जीवन ही संसार में सार्थक है, अपनी सच्ची उन्नति और परहित को साधने वाला बनता हैं निन्दित या अपयश का जीवन निकृष्ट है, घृणित है, अधम है। इस प्रकार यशस्वी जीवन बनाने को मनोभावना वेद में बताई गई है।[34]

### पपप. दीर्घायु का सध्ल्प

पश्मेय शरदः शतं जीवेम शरदः शतं श्रृणुयाम शरदः शतम्।
प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयभा शरदः शतात्।। [35]

अर्थ – सौ वर्ष तक हम देखें, सौ वर्ष तक हम प्राण धारण करें, सौ वर्ष तक हम सुनें सौ वर्ष तक हम दीनतारहित पूर्ण स्वस्थ हों, सौ वर्ष से अधिक भी ऐसे ही वर्तें।

देखना, बोलना, सुनना, प्राण धारण करना और पूर्ण स्वस्थ रहना कलेवर के मुख्य धर्म हैं। इन सबके साथ सौ वर्ष तक काया का स्थिर रहना ही शारीरिक परम सुख है। प्रतिदिन इस प्रकार सौ वर्ष तक जीवित रहने का सध्ल्प करना वैदिक आदर्श है।

### पअ. पुण्यात्मा बनने का सध्ल्प

परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षाट्ट वनांनि संचर गृहेषु गोषु मे मनः।। [36]

अर्थ – ओ मन के पापभाव! तू परे चला जा क्योंकि तू निन्दित बातों को पसन्द करता है, दूर हो जा तुझे नहीं चाहता हूट्ट, वृक्षों को वनों को प्राप्त हो, मेरा मन स्त्राी–पुत्राादियों में गौओं में रहे।

जब कभी मन में पापभाव उठे तो उस समय मनुष्य को निम्न प्रकार दूर करने का यत्न करना चाहिये –

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

1. पाप प्रेरणा में दोष दृष्टि करनाँ उसमें दोषों त्रुटियों को देखना।
2. पुनः पुनः दूर करने का साहस करना।
3. उसकी ओर उपेक्षा करना, ध्यान न देना।
4. स्त्री–पुरुष आदि में रुचि, कर्त्तव्यपालन और गौ आदि पशुओं की सेवा करना।

पापभाव को दूर करने के मन्त्रा में कहे ये पाट्टच साधन हैं जो कि उच्च मनोभावना से सेवन करने योग्य परम पफलप्रद हैं।

### 6द्ध मन का प्रार्थनात्मक उपयोग

संकल्प और प्रार्थना में कुछ भेद है। संकल्प कहते हैं – मनोभाव से स्वशक्ति का उद्बोधन तथा वृ( करना और प्रार्थना कहते हैं – मनोभाव से अन्य की शक्ति का अपने मे ग्रहण तथा आवेश करना। वेद में मन के प्रार्थनात्मक उपयोग भी बहुधा मिलते हैं। कुछ निम्न दिये जाते हैं –

**प. अभय प्राप्ति के लिये**

सख्ये त इन्द्र वाजिनो मा भेम शवससस्पते।
त्वामभिप्रणोनुमो जेतारमपराजितम्।।[37]

अर्थ – ओ, बल के स्वामिन् सर्वशक्तिमन् परमेश्वार! तुझ अपराजित किसी से पराजित न होने वाले जेता–सदा विजेता देव को बारम्बार नमस्कार करते हैं, जिससे कि तुझ शक्तिमान् की मित्राता में हम न डरें – किसी से कभी भय न करें।

**पप. तेज–साहस आदि धारण करने के लिये**

तेजो{सि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्य मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहो{सि सहो मयि धेहि।।[38]

अर्थ – हे परमात्मन्! ते तेजस्वरूप है, मुझमें तेज धारण करा। हे परमात्मन! तू पराक्रमरूप है मुझमें भी पराक्रम धारण करा। हे परमात्मन्! तू बलस्वरूप है, मुझमें भी प्रभाव धारण करा। हे परमात्मन्! तू साहस स्वरूप है, मुझमें भी साहस धारण करा।

**पपप. मेधालाभ के लिये**

यां मेघां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु।।[39]

अर्थ – हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! जिस धारणवती बु( को ऋषि–मुनिगण और पूर्वज–पथप्रदर्शक सेवन करते आये हैं उस धारणवती बु( से आज या इस जीवन में मुझे

मेधावी–मेधावाला–बुि(मान् कर।

**पअ. कल्याण प्राप्ति के लिये**

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरद्दैस्तुष्ट्वा॒सस्तनुभि र्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।[40]

अर्थ – हे परमात्मन्! हम लोग यजनशील तथा विद्वान् होते हुए कानों से कल्याणकारी वचन को सुनें, आट्टखों से कल्याणकारी दर्शनीय को देखें, स्थिरपूर्ण अद्दों से तेरी स्तुति करते हुए शरीरों से जो देवों के हितकर आयु हो उसे प्राप्त हों।

**अ. सर्वहित के लिये**

सदा सुगः पितुमाट्ट अस्तु पन्था मध्वा देवा ओषधीः सम्पिपृक्त।
भगो मे अग्रे सख्ये न मृध्या उद्रायो अश्याट्ट सदनं पुरु क्षोः।।[41]

अर्थ – हे अग्रनायक जगदीच्चार! सदा सुगम अन्नादि पदार्थों से सम्पन्न मार्ग हो, तेरे रचे अग्नि–सूर्य आदि देव औषधियों को मधुर रस से सम्यक् सम्पृक्त करें, उत्तमतया युक्त करें। तभी तेरी मित्राता में मेरा ऐच्चार्य नहीं नष्ट हो, धन के अन्न के बड़े भवन को – भण्डार तथा कोष को उन्नत करूं।

## 7द्ध मन का आदेशात्मक उपयोग

**प. वीरता के लिए आदेश**

वृषा ह्यसि राधसे जज्ञिषे वृष्णि ते शवः।
स्वक्षत्रां तं धृषन्मनः सत्राहमिन्द्र पौंस्यम्।।[42]

अर्थ – ओ राजन्! तू सचमूच साण्ड है – साण्ड के समान आक्रमणकारी, गर्जनेवाला और प्रताती है। राष्ट्र की समृि( के लिये तू जन्मा है, तेरा बल–सैन्यबल वर्षा–प्रपात के समान शत्रु पर प्रपतनशील है। तेरा मन स्वकीय क्षात्राबल का अभिमानी और घर्षणशील है और तेरा पौरुष–साहस शत्रुओं का हननकर्त्ता है।

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनु वर्त्मन एत।।[43]

अर्थ – अयि मेरे वीर सैनिको! मैं राजा या सेनापति अपने मन से तुम्हारे मनों को ग्रहण करता हूट्ट। मेरे चित्त के अनुसार अपने चित्तों से चलो। अपने वश में तुम्हारे हृदयों को करता हूट्ट। मेरी चाल के साथ तुम रास्ता चलो।

**पप. धार्मिकता के लिए आदेश**

International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनु वर्त्मन एत।।[44]

अर्थ – ऐ पत्राो! या पात्रा! मैं अपने मन से तुम्हारे मन को स्वाधीन करता हूट्ट, अब तुम मेरे चित्त के अधीन अपने चित्त से चलोगे, अपने हृदय के वश में ही तुम्हारे हृदय करता हूट्ट, बस अब तुम मेरी गति के पीछे गति करोगे।

यद्वो मनः परागतं यद् ब(मिह वेह वा।
तद्व आवर्तयामसि मयि वो रमतां मनः।।[45]

अर्थ – हे शिष्य! हे पुत्रा या हे पात्रा! जो तुम्हारा मन कहीं दूर वासना में पड़ा हुआ है, जो इस वासना में या इस विषय भोग में पफंसा हुआ है। उस तुम्हारे मन को हम वापिस ले आते हैं, उन विषयों से अलग कर लाते हैं। बस! अब तुम्हारा मन मुझमें रमेगा, मेरे अधीन रमण करेगा – मेरे शिक्षण के अनुसार चलेगा – मेरी शिक्षाओं का तुम अब सर्वथा आचरण करोगे।

अन्य सद्गुणों के धारण कराने के लिये भी वेदों में आदेश बहुधा मिलते हैं। यथा –

त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्वि(नम्।।[46]

अर्थ – त्याग से भोग कर मत ललचा धन किसका है? अर्थात् किसी का नहीं।

### पपप. उन्माद के लिए आदेश

इह ते सुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः।
उत् त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि।।[47]

अर्थ – ओ प्यारे! यहीं तेरा श्वासोच्छ्वास रहे, यही शरीर में प्राणशक्ति बनी रहे, इसी शरीर में आयु पूरे समय तक बनी रहे। इसी शरीर में तेरा मन स्वस्थ रूप में रहे। तुझे 'निर्ऋति' दुःख, दरिद्रता, पापवासना के पाशों से दैवी वाणी से, दिव्यशक्तिशाली वाणी – मन्त्रा वाणी के द्वारा उभारता हूट्ट।

जितने भी इस रोग के कारण हैं वह सब निर्ऋति के पाश हैं, उनसे उभारने का आदेश प्रयोजक उस उन्मादी आदि पात्रा को दे, ऐसा वैदिक आदर्श है, वह आदेश गम्भीरता और साहस भरे शब्दों में देना चाहिये। तथा –

अग्निष्टे निशमयतु यदि ते मन उद्युतम्।
कृणोमि विद्वान्भेषजं यथा{नुमदितो{ससि।।[48]

अर्थ – हे भोले भाई! यदि तेरा मन उच्चाट हो गया है – उचाटन में आ गया है – उखड़ गया है तो यह अग्नि उसे बिल्कुल शान्त और ठीक कर देगा, जिस कारण को लेकर तू मत्त हुआ है। उसी प्रकार मैं सब बात जानकर औषध करता हूट्ट।

**पअ. शारीरिक कठिन रोग चिकित्सा के लिये**

हस्ताभ्यां दशशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां ताभ्यां त्वाभिमृशामसि।।[49]

अर्थ – हे पात्रा! तुझे मैं दशों अंगुलियों सहित हाथों से, तथा उन आरोग्य करने के धर्म रखने वाले हाथों से तुझे अभिमर्श करता हूट्ट – छूता हूट्ट तथा वाणी को अग्रसर करने वाली जिह्वा है उससे आदेश देता हूट्ट।

**अ. क्षय रोग के लिये**

अद्दभेदो अद्दज्वरो यभा ते हृदयामयः।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तत् वाचा साढः परस्तराम्।।[50]

अर्थ – अद्दों का टूटना, अद्दों में ज्वर रहना और जो तेरा हृदय–सम्बन्धी हृदयकमल पुफफ्रपुफस सहित हृदय–सम्बन्धी रोग यक्ष्मा–क्षय है वह मेरी वाणी से – मेरे आदेश से अत्यन्त तिरस्कृत हो श्येन पक्षी की तरह जैसे श्येन पक्षी 'बाज या चील' बेंध ;निशानेद्ध से ताड़ित हो आकाश से नीचे गिर पड़ता है एवं तेरा क्षयरोग तिरस्कृत होकर गिर पड़ता है, छिप्र–छिप्र हो जाता है, नष्ट हो जाता है।

**समीक्षा**

इस प्रकार ''वैदिक मनोविज्ञान'' संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। वैसे तो इस विषय के वेद में सहस्रों ग्रन्थ मिल सकते हैं, परन्तु ज्यादातर आधुनिक परिपेक्ष्य में मनोविज्ञान का उद्भव बताते हैं, जबकि स्वामी ब्रह्ममुनि ने मनोविज्ञान को वेदों में प्रमाणित करके प्राच्य विद्या के क्षेत्रा में अद्वितीय योगदान दिया है। वेद में संकल्पात्मक, प्रार्थनात्मक और आदेशात्मक सक्रिय–मनोविज्ञान के उपयोग हैं, किन्तु पाभाात्य मनोविज्ञान में आदेशात्मक मनोविज्ञान ही प्रायः उपयुक्त होता है। वहाट्ट जीवनसुधार विषयक आदेश का अभाव–सा है। अतः वेद में जीवन–सुधार आदेश मिलने की अधिक संभावना है। पुनः संकल्प और प्रार्थना भी वेद का मुख्य विषय है, इसलिये वैदिक मनोविज्ञान का स्थान उच्च है – ऐसा शोधकर्त्ता ने पाया। पुरातन ऋषि–मुनि इन संकल्पात्मक और प्रार्थनात्मक मनोविज्ञान के उपयोग से अपने जीवन

को कृत–कृत्य किये हुए होते थे। अतएव आदेशात्मक उपयोग से जनता का हित अधिक और तत्काल सि( करने में समर्थ होते थे, इसी को किन्हीं लोगों ने मन्त्रा–विद्या का नाम देकर प्रसि( कर दिया था। अभी यदि इस वेद–प्रदर्शित मनोविज्ञान का उपयोग किया जावे तो जनता का बड़ा ही हित सि( हो।

---

[1] प्रेम–अप्रीति, हर्ष–शोक, सुख–दुःख की अनुभूति का नाम अहंकृति है
[2] यजुद्ध 34.2
[3] स्वाद्ध ब्रह्मद्ध परिद्ध, वैदिक मनोविज्ञान, प्रथम भूमि, पृद्ध 89
[4] यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति
[5] स्वाद्ध ब्रह्मद्ध परिद्ध, वैदिक मनोविज्ञान, प्रथम भूमि, पृद्ध 90
[6] कठोद्ध 1.3, मनसस्तु परा बु(र्बु(रात्मा महान्परः। महतः परमव्यक्तमव्यक्तापुरुषः परः। यच्छेद्वाघ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेतद्यन्छेच्छान्त आत्मनि।
[7] अथर्वद्ध 8.2.21
[8] वही, 6.41.1
[9] यजुद्ध 35.6
[10] ऋद्ध 7.100.5
[11] स्वाद्ध ब्रह्मद्ध परिद्ध, वैदिक मनोविज्ञान, द्वितीय भूमि, पृद्ध 92–93
[12] 'आत्मा हृदये श्रितः' ;तैद्ध 3.10.8.9द्ध 'अंगुष्ठमात्राः पुरुषः सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः' ;कठोपनिषदद्ध
[13] केनोद्ध 4.5
[14] ऋद्ध 10.10.13
[15] यजुद्ध 18.29
[16] यजुद्ध 29.17
[17] ऋद्ध 1.164.37
[18] ऐद्धआद्ध 1.3.2
[19] स्वाद्ध ब्रह्मद्ध परिद्ध, वैदिक मनोविज्ञान, तृतीय भूमि, पृद्ध 95
[20] यजुद्ध 34.1
[21] केनेषितं पतति प्रेषितं मनः – केनोद्ध 1.1
[22] मनो न यो{ध्वनः सद्य एति – ऋद्ध 1.71.9
[23] यजुद्ध 34.3
[24] यजुद्ध 34.4
[25] स्वाद्ध ब्रह्मद्ध परिद्ध, वैदिक मनोविज्ञान, चतुर्थ भूमि, पृद्ध 99
[26] यजुद्ध 34.5
[27] स्वाद्ध ब्रह्मद्ध परिद्ध, वैदिक मनोविज्ञान, चतुर्थ भूमि, पृद्ध 100
[28] यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्। तंतमेवैति कौन्तेय सदा तoावभावितः।। – गीता 8.2
[29] अथर्वद्ध 10.8.28
[30] अथर्वद्ध 8.52.7
[31] आलस्यं जीवतो मृतिः ;हितोक्तिःद्ध
[32] स्वाद्ध ब्रह्मद्ध परिद्ध, वैदिक मनोविज्ञान, प×चम भूमि, पृद्ध 102

e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 02
January 2018

[33] सामद्भपृद्भ 6.3.13.10
[34] स्वाद्भ ब्रह्मद्भ परिद्भ, वैदिक मनोविज्ञान, प×चम भूमि, पृद्भ 103
[35] यजुद्भ 36.24
[36] अथर्वद्भ 6.45.1
[37] ऋद्भ 1.11.2
[38] यजुद्भ 19.9
[39] यजुद्भ 32.14
[40] ऋद्भ 1.99.7, यजुद्भ 25.27
[41] ऋद्भ 3.54.21
[42] ऋद्भ 5.35.4
[43] अथर्वद्भ 3.8.6
[44] वही, 3.7.6
[45] वही, 8.13.4
[46] यजुद्भ 40.1
[47] अथर्वद्भ 7.1.3
[48] वही, 6.11.2
[49] अथर्वद्भ 4.13.7
[50] वही, 5.30.9